

Chapter चार

भगवान् ऋषभदेव के लक्षण

इस अध्याय में महाराज नाभि के पुत्र ऋषभदेव के एक सौ पुत्रों की उत्पत्ति का वर्णन है जिनके शासन काल में संसार सभी प्रकार से सुखी रहा। जब ऋषभदेव महाराज नाभि के पुत्र रूप में प्रकट हुए, तो लोगों ने उन्हें अपने काल का महानतम एवं सुन्दरतम पुरुष माना। उनमें अंगसौष्ठव, प्रभाव, बल, उत्साह, कान्ति तथा अन्य दिव्य गुण अद्वितीय थे। ऋषभ शब्द श्रेष्ठ या परम का सूचक है। महाराज नाभि ने अपने पुत्र के अद्वितीय गुणों के कारण ही उसका नाम ऋषभ अथवा “सर्वश्रेष्ठ” रखा। उनका प्रभाव अनुपम था। यद्यपि तब वर्षा का अभाव हो गया था, किन्तु ऋषभदेव ने वर्षा के स्वामी, स्वर्ग के राजा इन्द्र की परवाह नहीं की। अपने ही सामर्थ्य से उन्होंने प्रचुर वर्षा से अजनाभ को ढक दिया। ऋषभदेव को पुत्र रूप में पाकर राजा नाभि बड़ी ही सावधानी से उसका पालन करने लगे। तत्पश्चात् उन्हें राज्य-भार सौंपकर वे गृहस्थ जीवन से विरक्त हो गये और बदरिकाश्रम में रहकर पूरी तरह से भगवान् वासुदेव की उपासना में लग गये। सामाजिक परिपाटी का पालन करने के लिए भगवान् ऋषभदेव कुछ काल तक गुरुकुल में विद्यार्थी के रूप में रहे और वहाँ से लौटने पर अपने गुरु की आज्ञा से जयन्ती को अपनी पत्नी रूप में स्वीकार किया जो स्वर्ग के राजा इन्द्र द्वारा उन्हें प्रदत्त की गई थी। जयन्ती से उनके सौ पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें से सबसे ज्येष्ठ पुत्र का नाम भरत था। महाराज भरत के शासनकाल से यह लोक भारतवर्ष कहलाया। ऋषभदेव के शेष पुत्रों में कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ तथा कीकट प्रमुख थे। अन्य पुत्रों के नाम कवि, हवि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस तथा करभाजन थे। ये नौ पुत्र राज-काज न करके भागवत के धार्मिक आदेशों का पालन करते हुए कृष्णभावनामृत के साधु-प्रचारक बन गये। इन सबके लक्षणों

तथा कार्यो का वर्णन श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में कुरुक्षेत्र में वसुदेव और नारद के वार्तालाप के समय हुआ है। जनता को शिक्षा देने के लिए राजा ऋषभदेव ने अनेक यज्ञ किये और अपने पुत्रों को जनता पर शासन करना सिखाया।

श्रीशुक उवाच

अथ ह तमुत्पत्त्यैवाभिव्यज्यमानभगवल्लक्षणं साम्योपशमवैराग्यैश्वर्यमहाविभूतिभिरनुदिनमेधमानानुभावं प्रकृतयः प्रजा ब्राह्मणा देवताश्चावनितलसमवनायातितरां जगृधुः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ ह—इस प्रकार (भगवान् के प्रकट होने के अनन्तर); तम्—उसको; उत्पत्त्या—आविर्भाव काल से; एव—ही; अभिव्यज्यमान—प्रकट रूप में; भगवत्-लक्षणम्—भगवान् जैसे लक्षणों से युक्त; साम्य—समभाव वाला; उपशम—इन्द्रियों तथा मन को वश में करते समय पूर्णतया शान्त; वैराग्य—गृहत्याग; ऐश्वर्य—ऐश्वर्य; महा-विभूतिभिः—महान् गुणों के कारण; अनुदिनम्—दिन-प्रतिदिन; एधमान—बढ़ता हुआ; अनुभावम्—उसकी शक्ति; प्रकृतयः—मंत्रीगण; प्रजाः—प्रजा, नागरिक; ब्राह्मणाः—ब्रह्म को जानने वाले विद्वान्; देवताः—देवतागण; च—तथा; अवनितल—पृथ्वी पर; समवनाय—शासन करने के लिए; अतितराम्—उत्कट; जगृधुः—अभिलाषा होने लगी।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—जन्म से ही महाराज नाभि के पुत्र में भगवान् के लक्षण प्रकट थे, यथा चरणतल के चिह्न (ध्वज, वज्र इत्यादि)। यह पुत्र सबों के साथ समभाव रखनेवाला और अत्यन्त शान्त स्वभाव का था। यह अपनी इन्द्रियों तथा मन को वश में कर सकता था और परम ऐश्वर्यवान होने के कारण उसे भौतिक सुख की लिप्सा नहीं थी। इन समस्त गुणों से सम्पन्न होने के कारण महाराज नाभि का पुत्र दिनोंदिन शक्तिशाली बनता गया। फलतः समस्त नागरिकों, विद्वान् ब्राह्मणों, देवताओं तथा मंत्रियों ने चाहा कि ऋषभदेव पृथ्वी के शासक बनें।

तात्पर्य : आजकल सस्ते अवतार होने लगे हैं, अतः अवतार में प्राप्य शारीरिक लक्षणों को ध्यान से देखना रोचक होगा। यह देखा गया था कि ऋषभदेव के पैरों में जन्म से ही दिव्य चिह्न (ध्वजा, वज्र, कमल इत्यादि) अंकित थे। इसके अतिरिक्त ज्यों-ज्यों वह बढ़ने लगा, उसकी ख्याति फैलने लगी। वह समभाव रखने वाला था। उसने न तो किसी एक का पक्ष लिया और न दूसरे की उपेक्षा ही की। ईश्वर के अवतार को छः ऐश्वर्यों से युक्त होना चाहिए। ये हैं—धन, बल, ज्ञान, सौन्दर्य, यश तथा त्याग। कहा जाता है कि ऋषभदेव सभी ऐश्वर्यों से युक्त होकर भी भौतिक सुख से परम विरक्त थे। वह आत्म-संयमी था, इसलिए सभी उन्हें चाहते थे। उनके अपूर्व गुणों के कारण सभी चाहते थे कि पृथ्वी

पर वही राज्य करें। ईश्वर के अवतार को अनुभवी लोग शास्त्रों में वर्णित लक्षणों द्वारा स्वीकार करते हैं। कभी भी मूर्ख लोगों की चाटुकारी से अवतार स्वीकार नहीं हो पाता।

तस्य ह वा इत्थं वर्ष्मणा वरीयसा बृहच्छ्लोकेन चौजसा बलेन श्रिया यशसा वीर्यशौर्याभ्यां च पिता ऋषभ इतीदं नाम चकार. ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसके; ह वा—निश्चय ही; इत्थम्—इस प्रकार; वर्ष्मणा—रंग-रूप से; वरीयसा—श्रेष्ठ; बृहत्-श्लोकेन—कवियों द्वारा वर्णित समस्त उत्तम गुणों से अलंकृत; च—भी; ओजसा—शौर्य से; बलेन—बल से; श्रिया—सुन्दरता से; यशसा—यश से; वीर्य-शौर्याभ्याम्—प्रभाव तथा वीरता से; च—तथा; पिता—महाराज नाभि ने; ऋषभः—श्रेष्ठ; इति—इस प्रकार; इदम्—यह; नाम—नाम; चकार—रखा।

जब महाराज नाभि का पुत्र प्रकट हुआ, तो उसमें महाकवियों द्वारा वर्णित समस्त उत्तम गुण दिखाई पड़े यथा ईश्वर के लक्षणों से युक्त सुगठित शरीर, शौर्य, बल, सुन्दरता, नाम, यश, प्रभाव तथा उत्साह। जब उसके पिता महाराज नाभि ने इन समस्त गुणों को देखा, तो उसे मनुष्यों में श्रेष्ठतम अथवा सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति मान कर उसका नाम ऋषभ रख दिया।

तात्पर्य : किसी को ईश्वर या उसका अवतार मानने के पूर्व उसके शरीर में ईश्वर के लक्षण देखने चाहिए। महाराज नाभि के असाधारण रूप से शक्तिशाली पुत्र में समस्त लक्षण पाये गये थे। उसका शरीर सुगठित था और वह समस्त दिव्य गुणों से सम्पन्न था। वह प्रभावशाली था और अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में करने वाला था। फलस्वरूप उसका नाम ऋषभ रख दिया गया जिससे यह सूचित होता है कि वह सर्वश्रेष्ठ मनुष्य था।

यस्य हीन्द्रः स्पर्धमानो भगवान्वर्षे न ववर्ष तदवधार्य भगवानृषभदेवो योगेश्वरः प्रहस्यात्मयोगमायया स्ववर्षमजनाभं नामाभ्यवर्षत्. ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; हि—निस्संदेह; इन्द्रः—स्वर्ग का राजा इन्द्र; स्पर्धमानः—ईर्ष्या के कारण; भगवान्—परम ऐश्वर्यवान्; वर्षे—भारतवर्ष में; न ववर्ष—वर्षा नहीं की; तत्—वह; अवधार्य—जानते हुए; भगवान्—भगवान्; ऋषभदेवः—ऋषभदेव; योग-ईश्वरः—समस्त योग के स्वामी; प्रहस्य—हँसते हुए; आत्म-योग-मायया—अपने आत्मबल से; स्व-वर्षम्—अपने देश पर; अजनाभम्—अजनाभ; नाम—नामक; अभ्यवर्षत्—जल की वर्षा की।

भौतिक रूप से महान् ऐश्वर्यशाली स्वर्ग का राजा इन्द्र राजा ऋषभदेव से ईर्ष्या करने लगा। अतः उसने भारतवर्ष नामक लोक पर जल बरसाना बन्द कर दिया। उस समय समस्त योगों के स्वामी भगवान् ऋषभदेव इन्द्र का प्रयोजन समझ गये और थोड़ा मुस्काये। तब उन्होंने अपने

शौर्य तथा योगमाया से अजनाभ नाम से विख्यात अपने देश में अत्यधिक वर्षा की।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है। इन्द्र तथा भगवान् के अवतार ऋषभदेव—इन दोनों को भगवान् कहा गया है। कभी-कभी नारद तथा ब्रह्मा भी भगवान् कहकर सम्बोधित किये जाते हैं। भगवान् का शाब्दिक अर्थ है ब्रह्मा, शिव, नारद अथवा इन्द्र के समान अत्यन्त ऐश्वर्यवान एवं शक्तिशाली व्यक्ति। अपने अद्वितीय वैभव के कारण ये सभी भगवान् कहे जाते हैं। राजा ऋषभदेव भगवान् के अवतार थे, अतः वे आदि भगवान् थे। फलस्वरूप उन्हें यहाँ योगेश्वर कहा गया है, जिसका अर्थ यह है कि उनमें अत्यन्त दिव्य-शक्ति थी। वे वर्षा के लिए इन्द्र पर आश्रित न थे। वे स्वयं जल की पूर्ति कर सकते थे और उन्होंने ऐसा किया भी। भगवद्गीता में उल्लेख हुआ है कि यज्ञाद्भवति पर्जन्यः—यज्ञ करने से आकाश में वर्षा के मेघ दिखाई पड़ते हैं। यद्यपि मेघ तथा वर्षा स्वर्ग के राजा इन्द्र के अधीन हैं, किन्तु यदि वह वर्षा नहीं करता है, तो यज्ञ अथवा यज्ञपति कहलाने वाले भगवान् यह कार्य अपने हाथों में ले लेते हैं। इसलिए अजनाभ देश में प्रचुर वर्षा हुई। यदि यज्ञपति चाहे, तो अपने किसी अधीनस्थ की सहायता के बिना भी कोई कार्य कर सकता है। इसीलिए भगवान् सर्वशक्तिमान कहलाते हैं। इस कलियुग में अन्ततः अनावृष्टि (वर्षा का अभाव) होगी, क्योंकि सामान्य जनता अपनी अविद्या तथा याज्ञिक सामग्री के अभाव के कारण यज्ञ की उपेक्षा करेगी। अतः श्रीमद्भागवत का उपदेश है—यज्ञै संकीर्तन-प्रायै यजन्ति हि सुमेधसः। वास्तव में, यज्ञ का प्रयोजन भगवान् को प्रसन्न करना है यद्यपि इस कलियुग में अभाव तथा अज्ञानता का बोलबाला है, किन्तु तो भी मनुष्य संकीर्तन-यज्ञ तो कर ही सकता है। प्रत्येक परिवार को चाहिए कि प्रति संध्या समय संकीर्तन-यज्ञ करे। इस प्रकार से वर्षा का अभाव नहीं रहेगा। भौतिक रूप से सुखी तथा मानसिक रूप से उन्नत होने के लिए अनिवार्य है कि इस युग में संकीर्तन-यज्ञ किया जाये।

नाभिस्तु यथाभिलषितं सुप्रजस्त्वमवरुध्यातिप्रमोदभरविह्वलो गद्गदाक्षरया गिरा स्वैरं
गृहीतनरलोकसधर्मं भगवन्तं पुराणपुरुषं मायाविलसितमतिर्वत्स तातेति सानुरागमुपलालयन्परं
निर्वृतिमुपगतः. ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

नाभिः—राजा नाभि; तु—निश्चय ही; यथा-अभिलषितम्—इच्छानुसार; सु-प्रजस्त्वम्—अत्यन्त सुन्दर पुत्र; अवरुध्य—पाकर; अति-प्रमोद—अत्यधिक प्रसन्नता; भर—की अति से; विह्वलः—विभोर होकर; गद्गद-अक्षरया—आह्लाद में शब्द न निकलने से; गिरा—वाणी से; स्वैरम्—स्वेच्छा से; गृहीत—स्वीकार किया; नर-लोक-सधर्मम्—मनुष्य की भाँति आचरण करके;

भगवन्तम्—श्रीभगवान् को; पुराण-पुरुषम्—जीवों में सर्वाधिक वय वाले; माया—योगमाया से; विलसित—मोहग्रस्त; मतिः—उसकी मति; वत्स—प्रिय पुत्र; तात—मेरे प्रिय; इति—इस प्रकार; स-अनुरागम्—अत्यन्त प्यार सहित; उपलालयन्—लालन-पालन करते हुए; पराम्—दिव्य; निर्वृतिम्—आनन्द; उपगतः—प्राप्त किया।

अपनी इच्छानुसार श्रेष्ठ पुत्र पाकर राजा नाभि दिव्य आनन्द के कारण विह्वल और पुत्र के प्रति अत्यन्त वत्सल हो उठे। उन्होंने गद्गद् वाणी से उसे “मेरे प्रिय पुत्र! मेरे प्यारे!” शब्दों से सम्बोधित किया। ऐसी बुद्धि योगमाया से उत्पन्न हुई जिसके कारण उन्होंने परम पिता भगवान् को अपने पुत्र रूप में स्वीकार किया। ईश्वर भी अपनी परमेच्छा के कारण उनके पुत्र बने और सबों के साथ ऐसा व्यवहार किया जैसे वे कोई सामान्य मनुष्य हो। इस प्रकार वे अपने दिव्य पुत्र का बड़े ही लाड़-प्यार से लालन-पालन करने लगे और वे दिव्य आनन्द, हर्ष तथा भक्ति से भावविभोर हो गये।

तात्पर्य : यहाँ माया शब्द का प्रयोग मोह के अर्थ में हुआ है। भगवान् को अपने पुत्र रूप में पाकर, महाराज नाभि सचमुच मोहग्रस्त थे, किन्तु यह दिव्य मोह था। यह मोह आवश्यक है क्योंकि बिना इसके कोई क्यों परम पिता को अपना पुत्र स्वीकार करने लगा? भगवान् अपने एक भक्त के पुत्र रूप में वैसे ही प्रकट होते हैं जिस प्रकार श्रीकृष्ण नन्द महाराज और यशोदा के पुत्र रूप में प्रकट हुए थे। ये भक्त अपने पुत्र को भगवान् रूप में कभी भी नहीं सोच सकते, क्योंकि ऐसा करने से पितृ-प्रेम में बाधा उत्पन्न होती है।

विदितानुरागमापौरप्रकृति जनपदो राजा नाभिरात्मजं समयसेतुरक्षायामभिषिच्य ब्राह्मणेषूपनिधाय सह मेरुदेव्या विशालायां प्रसन्ननिपुणेन तपसा समाधियोगेन नरनारायणाख्यं भगवन्तं वासुदेवमुपासीनः कालेन तन्महिमानमवाप. ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

विदित—भलीभाँति ज्ञात; अनुरागम्—लोकप्रियता; आपौर-प्रकृति—समस्त नागरिकों तथा प्रशासकों के बीच; जन-पदः—सामान्य जनों की सेवा की इच्छा से; राजा—राजा; नाभिः—नाभि; आत्मजम्—अपने पुत्र को; समय-सेतु-रक्षायाम्—धार्मिक जीवन के वैदिक नियमों के अनुसार जनता की रक्षा करते हुए; अभिषिच्य—राज्याभिषेक करके; ब्राह्मणेषु—ब्राह्मणों को; उपनिधाय—सौंप कर; सह—साथ; मेरुदेव्या—अपनी पत्नी मेरुदेवी के साथ. मेरुदेवी; विशालायाम्—बदरिकाश्रम में; प्रसन्न-निपुणेन—अत्यन्त संतोष एवं निपुणता के साथ रहते हुए; तपसा—तपस्या से; समाधि-योगेन—पूर्ण समाधि से; नर-नारायण-आख्यम्—नर-नारायण नामक; भगवन्तम्—भगवान्; वासुदेवम्—श्रीकृष्ण को; उपासीनः—उपासना करते हुए; कालेन—कालक्रम से; तत्-महिमानम्—महिमामय धाम, वैकुण्ठ लोक को; अवाप—प्राप्त किया।

राजा नाभि ने समझ लिया था कि उनका पुत्र ऋषभदेव नागरिकों, प्रशासकों तथा मंत्रियों में अत्यन्त लोकप्रिय है। अतः उन्होंने वैदिक धर्म-पद्धति अनुसार जनता की रक्षा के उद्देश्य से अपने

पुत्र को संसार के सम्राट के रूप में अभिषिक्त कर दिया और उसे विद्वान ब्राह्मणों के हाथों में सौंप दिया जो शासन चलाने में उसका मार्ग-दर्शन कर सकें। फिर महाराज नाभि अपनी पत्नी मेरुदेवी के साथ हिमालय पर्वत स्थित बदरिकाश्रम में गये और वहाँ पर अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक एवं निपुणता के साथ तपस्या में लग गये। पूर्ण समाधि में उन्होंने कृष्ण के ही अंश रूप भगवान् नर-नारायण की उपासना की, अतः कालक्रम में महाराज नाभि को वैकुण्ठ प्राप्त हुआ।

तात्पर्य : जब महाराज नाभि ने देखा कि जनता तथा राज्य अधिकारियों के बीच उनका पुत्र ऋषभदेव अत्यन्त लोकप्रिय हो गया है, तो उन्होंने उसे राज्य-सिंहासन पर आसीन करने का निश्चय किया। साथ ही, वे अपने पुत्र को बुद्धिमान ब्राह्मणों के हाथों में सौंपना चाहते थे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि राजा को बुद्धिमान ब्राह्मणों की देखरेख में वैदिक नियमों के अनुसार राज्य करना होता था जिससे वे *मनुस्मृति* तथा इसी प्रकार के वैदिक शास्त्रों के अनुसार सलाह दे सकें। राजा का यह कर्तव्य है कि वह वैदिक नियमों के अनुसार शासन चलाए। वैदिक नियमों के अनुसार समाज चार वर्गों में विभाजित है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः*। समाज को इस प्रकार विभाजित करने के बाद यह राजा का कर्तव्य है कि वह यह देखे कि प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्ण (जाति) के अनुसार वैदिक नियमों का पालन करे। ब्राह्मण को चाहिए कि वह जनता को ठगे बिना ब्राह्मण का कर्तव्य निभाए। बिना योग्यता के किसी को ब्राह्मण कहलाने का अधिकार नहीं है। यह राजा का कर्तव्य है कि वह देखे कि प्रत्येक व्यक्ति वैदिक नियमानुसार अपना व्यावसायिक कर्तव्य निभावे। साथ ही, जीवन के अन्त समय में वैराग्य अनिवार्य है। महाराज नाभि, राजा रहते हुए भी, गृहस्थ जीवन से विरक्त हो गये और अपनी पत्नी के साथ हिमालय बदरिकाश्रम चले गये जहाँ नर-नारायण विग्रह की उपासना की जाती है। *प्रसन्न-निपुणेन तपसा* शब्दों से सूचित होता है कि राजा ने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक तथा पटुता के साथ सभी प्रकार की तपस्याएँ की। सम्राट् होते हुए भी अपने सुविधामय जीवन का परित्याग करने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई। बदरिकाश्रम में कठिन तपस्या करते हुए भी वे परम प्रसन्न थे और सारा कार्य दक्षतापूर्वक करते रहे। इस प्रकार कृष्णभावनामृत (समाधि योग) में पूर्ण निमग्न रहकर और सतत वासुदेव कृष्ण का ध्यान करते हुए महाराज नाभि ने जीवन के अन्तिम काल में सफलता प्राप्त की और वैकुण्ठलोक को भेज दिए गये।

यही वैदिक जीवन पद्धति है। मनुष्य को जन्म-मृत्यु के चक्र से छूटकर घर लौटजाना चाहिए अर्थात् वापस चला-जाना चाहिए भगवान् के धाम जाना है। इस प्रसंग में *तन्महिमानम् अवाप* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। श्रील श्रीधर स्वामी का कहना है कि *महिमा* का अर्थ जीवन से मुक्ति है। अतः हमें इस जीवन में ऐसे कर्म करने चाहिए कि इस शरीर को त्यागने के बाद हम जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो सकें। यही *जीवन्मुक्ति* कहलाती है। श्रील वीर राघव आचार्य लिखते हैं कि *छान्दोग्य उपनिषद्* में *जीवन्-मुक्त* अर्थात् इस शरीर में ही जो मुक्त को चुका है उसके आठ लक्षण बताए गये हैं। पहला लक्षण है, *अपहत पाप*—अर्थात् वह समस्त पापकर्मों से मुक्त रहता है। जब तक मनुष्य माया के चंगुल में रहता है, वह पाप-कर्म में लगा रहता है। *भगवद्गीता* में ऐसे मनुष्यों को *दुष्कृतिनः* कहा गया है, जिसका अर्थ है कि वे सदैव पापकर्म में रत रहते हैं। जो जीवन्मुक्त है, वह कभी पाप नहीं करता। व्यभिचार, मद्यपान, मांसाहार तथा द्यूत क्रीड़ा—ये ही पापकर्म हैं। जीवन्मुक्त मनुष्य का दूसरा लक्षण है, *विजर*—अर्थात् उसे वृद्धावस्था के कष्ट नहीं भोगने पड़ते। तृतीय लक्षण है, *विमृत्यु*—अर्थात् वह मनुष्य जो अपने आप को इस प्रकार तैयार करता है कि वह आगे और कोई शरीर धारण नहीं करता, क्योंकि इनकी मृत्यु होनी ही है। दूसरे शब्दों में, वह जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है। चतुर्थ लक्षण है, *विशोक*—अर्थात् वह भौतिक शोक तथा हर्ष के प्रति उदासीन रहता है। पंचम लक्षण, *विजिघत्स* है, जिसका अर्थ है कि उसे भौतिक सुख की कामना नहीं रहती। षष्ठम लक्षण है, *अपिपाता*—अर्थात् वह अपने परम प्रिय ईश्वर श्रीकृष्ण की भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना चाहता। सप्तम लक्षण है, *सत्य-काम*—जिसका अर्थ है कि उसकी समस्त आकांक्षाएँ परम सत्य श्रीकृष्ण की ओर उन्मुख होती हैं। वह *सत्य-संकल्प* होता है। उसकी समस्त कामनाओं को पूरा करने वाले श्रीकृष्ण हैं। प्रथम तो भौतिक लाभ के लिए वह कोई इच्छा ही नहीं करता और यदि करता भी है, तो वह ईश्वर की सेवा मात्र करना चाहता है। इसीलिए उसे *सत्य-संकल्प* कहते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती इंगित करते हैं कि *महिमा* का अर्थ वैकुण्ठलोक को—भगवद्धाम को वापस जाना है। श्रील शुकदेव का कथन है कि *महिमा* का अर्थ है कि भक्त भगवान् के गुणों को प्राप्त कर लेता है। इसे *सधर्म* अर्थात् सम-गुण कहते हैं। जिस प्रकार कृष्ण न तो जन्मते हैं और न मरते हैं उसी प्रकार उनके जो भक्त भगवान् के धाम पहुँच जाते हैं, वे फिर इस संसार के जन्म-मरण चक्र में नहीं पड़ते।

यस्य ह पाण्डवेय श्लोकावुदाहरन्ति—
को नु तत्कर्म राजर्षेर्नाभेरन्वाचरेत्पुमान् ।
अपत्यतामगाद्यस्य हरिः शुद्धेन कर्मणा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; ह—निस्सन्देह; पाण्डवेय—वह महाराज परीक्षित; श्लोकौ—दो श्लोक; उदाहरन्ति—सुनाते हैं; कः—कौन; नु—तब; तत्—वह; कर्म—कार्य; राज-ऋषेः—पवित्र राजा; नाभेः—नाभि का; अनु—अनुगमन करते हुए; आचरेत्—आचरण कर सकता था; पुमान्—मनुष्य; अपत्यताम्—पुत्रत्व, पुत्र बनना; अगात्—स्वीकार किया; यस्य—जिसका; हरिः—भगवान् ने; शुद्धेन—पवित्र; कर्मणा—कर्म से।

हे महाराज परीक्षित, महाराज नाभि के यशोगान में प्राचीन मुनियों ने दो श्लोक रचे। उनमें से एक यह है, “महाराज नाभि जैसी सिद्धि अन्य कौन प्राप्त कर सकता है? उनके कर्मों तक कौन पहुँच सकता है? उनकी भक्ति के कारण भगवान् ने उनका पुत्र बनना स्वीकार किया।”

तात्पर्य : इस श्लोक में शुद्धेन कर्मणा शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। यदि कोई कार्य भक्ति से नहीं किया जाता तो वह भौतिक प्रकृति के गुणों से दूषित हो जाता है। भगवद्गीता में इसकी व्याख्या यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः के रूप में की गई है। जो कर्म भगवान् को प्रसन्न करने के लिए किये जाते हैं, वे ही शुद्ध हैं और वे ही प्रकृति के गुणों से कलुषित नहीं होते। अन्य सभी कर्म सतो रजो तथा तमोगुणों के द्वारा दूषित हो जाते हैं। इन्द्रियों की तुष्टि के लिए किए जाने वाले समस्त भौतिक कर्म संदूषित होते हैं, किन्तु महाराज नाभि ने ऐसा कोई दूषित कर्म नहीं किया। यहाँ तक कि यज्ञ के समय भी उन्होंने दिव्य कर्म ही किए थे। इसलिए उन्हें पुत्र रूप में भगवान् की प्राप्ति हुई।

ब्रह्मण्योऽन्यः कुतो नाभेर्विप्रा मङ्गलपूजिताः ।
यस्य बर्हिषि यज्ञेशं दर्शयामासुरोजसा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मण्यः—ब्राह्मण-भक्त; अन्यः—कोई दूसरा; कुतः—कहाँ है; नाभेः—महाराज नाभि के अतिरिक्त; विप्राः—ब्राह्मण समुदाय; मङ्गल-पूजिताः—भली भाँति उपासित एवं तुष्ट; यस्य—जिसका; बर्हिषि—यज्ञ-स्थल में; यज्ञ-ईशम्—समस्त यज्ञों के भोक्ता, श्रीभगवान्; दर्शयाम् आसुः—दर्शन कराया; ओजसा—अपनी ब्राह्म शक्ति से।

[दूसरी स्तुति इस प्रकार है] “महाराज नाभि से बढ़कर ब्राह्मणों का उपासक (भक्त) कौन हो सकता है? चूँकि राजा ने योग्य ब्राह्मणों को पूजा से पूर्णतया सन्तुष्ट कर दिया था, इसलिए अपने ब्राह्म-तेज से उन्होंने महाराज नाभि को भगवान् नारायण का साक्षात् दर्शन करा दिया।”

तात्पर्य : यज्ञोत्सव के कार्य में लगे हुए पुरोहित सामान्य ब्राह्मण न थे। वे इतने शक्तिशाली थे कि

अपनी स्तुति से भगवान् का प्राकट्य करा सकते थे। इस प्रकार से महाराज नाभि को ईश्वर के साक्षात् दर्शन हो सके। जब तक कोई वैष्णव न हो, वह भगवान् को बुला नहीं सकता। ईश्वर किसी प्रकार का आमंत्रण स्वीकार नहीं करते। इसलिए पद्म पुराण में कहा गया है—

षट्कर्मनिपुणो विप्रो मन्त्रतन्त्रविशारदः ।

अवैष्णवो गुरुर्न स्याद् वैष्णवः श्वपचो गुरुः ॥

“भले ही कोई ब्राह्मण वैदिक ज्ञान के समस्त विषयों में कितना ही निपुण क्यों न हो, किन्तु यदि वैष्णव नहीं है, तो वह गुरु नहीं हो सकता, किन्तु यदि श्वपच (चांडाल) भी वैष्णव है, तो वह गुरु बन सकता है।” ये ब्राह्मण निश्चय ही वैदिक मंत्रों के उच्चारण में अत्यन्त पटु थे। वे वैदिक अनुष्ठान कराने में भी दक्ष थे और सबसे बड़ी विशेषता तो यह थी कि वे सभी वैष्णव थे। अतः अपने आत्मबल से वे भगवान् का आवाहन करके अपने शिष्य महाराज नाभि को साक्षात् दर्शन दिला सके। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने ओजसा शब्द की टीका “भक्ति के बल से” की है।

अथ ह भगवानृषभदेवः स्ववर्षं कर्मक्षेत्रमनुमन्यमानः प्रदर्शितगुरुकुलवासो लब्धवरैर्गुरुभिरनुज्ञातो गृहमेधिनां धर्माननुशिक्षमाणो जयन्त्यामिन्द्रदत्तायामुभयलक्षणं कर्म समाम्नायाम्नातमभियुञ्जन्नात्मजानामात्मसमानानां शतं जनयामास. ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात् (अपने पिता के प्रयाण के पश्चात्); ह—निस्संदेह; भगवान्—भगवान्; ऋषभ-देवः—ऋषभदेव; स्व—अपना; वर्षम्—राज्य; कर्म-क्षेत्रम्—कार्य-क्षेत्र; अनुमन्यमानः—के रूप में स्वीकार करते हुए; प्रदर्शित—उदाहरणस्वरूप दिखाया गया; गुरु-कुल-वासः—गुरुकुल में रहते हुए; लब्ध—प्राप्त करके; वरैः—वरदान; गुरुभिः—गुरुओं से; अनुज्ञातः—आदेशित होकर; गृह-मेधिनाम्—गृहस्थों के; धर्मान्—कर्तव्य; अनुशिक्षमाणः—उदाहरण द्वारा शिक्षा प्रदत्त; जयन्त्याम्—अपनी पत्नी जयन्ती से; इन्द्र-दत्तायाम्—भगवान् इन्द्र द्वारा प्रदत्त; उभय-लक्षणम्—दोनों प्रकार के; कर्म—कर्म; समाम्नायाम्नातम्—शास्त्रों में वर्णित; अभियुञ्जन्—करते हुए; आत्मजानाम्—पुत्रों को; आत्म-समानानाम्—अपने ही समान; शतम्—एक सौ; जनयाम् आस—उत्पन्न किया।

महाराज नाभि के बदरिकाश्रम प्रस्थान के पश्चात् परम ईश ऋषभदेव ने अपने राज्य को ही अपना कर्मक्षेत्र समझा। अतः उन्होंने सर्वप्रथम गुरुओं के निर्देश में ब्रह्मचर्य स्वीकार करके अपना दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए गृहस्थ के कर्तव्यों की शिक्षा दी। वे गुरुकुल में वास करने भी गये। शिक्षा पूरी होने पर उन्होंने गुरु-दक्षिणा दी और तब गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए। उन्होंने जयन्ती नामक पत्नी ग्रहण की और उससे एक सौ पुत्र उत्पन्न किये जो उनके ही समान बलवान तथा योग्य थे। उनकी पत्नी जयन्ती स्वर्ग के राजा इन्द्र द्वारा उन्हें भेंट में दी गई थी। ऋषभदेव

तथा जयन्ती ने श्रुति तथा स्मृति शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट अनुष्ठानों का पालन करते हुए गृहस्थ जीवन का आदर्श प्रस्तुत किया।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का अवतार होने से ऋषभदेव को सांसारिक कार्यों से कोई सरोकार नहीं था। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है— *परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्—* अवतार का उद्देश्य भक्तों की रक्षा तथा अभक्तों के आसुरी कार्यों को रोकना है। ईश्वर के अवतार लेने के यही दो प्रयोजन होते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि उपदेश देने के पूर्व मनुष्य को चाहिए कि वह व्यावहारिक जीवन बिताकर लोगों को दिखाये कि कार्य किस प्रकार करना चाहिए। *आपनि आचरि' भक्ति शिखाइमु सबारे—* जब तक कोई उसी रूप से आचरण नहीं करता, तब तक वह अन्यो को शिक्षा नहीं दे सकता। ऋषभदेव आदर्श राजा थे और उन्होंने गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त की, यद्यपि वे पहले से ही शिक्षित थे क्योंकि भगवान् सर्वज्ञ होते हैं। यद्यपि गुरुकुल में उनके सीखने के योग्य कुछ भी नहीं था, किन्तु वे लोगों को यह शिक्षा देने के लिए वहाँ गये कि वैदिक गुरुओं से किस प्रकार शिक्षा प्राप्त की जाती है। इसके बाद वे गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए और श्रुति-स्मृति-सम्मत वैदिक विधि से जीवन बिताने लगे। श्रील रूप गोस्वामी *भक्तिरसामृतसिन्धु* (१.२.१०) में *स्कन्द पुराण* का निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

श्रुतिस्मृतिपुराणादि पंचरात्रविधिं विना।

ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते।

मानव समाज को वैदिक साहित्य जैसे श्रुति तथा स्मृति से प्राप्त उपदेशों का पालन करना चाहिए। *पाञ्चरात्रिक विधि* के अनुसार व्यावहारिक जीवन में भगवान् की यही उपासना है। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह दिव्य जीवन बिता कर अन्त में भगवद्धाम जाये। महाराज ऋषभदेव ने इन समस्त नियमों का कठोरता से पालन किया। वे आदर्श गृहस्थ बने रहे और उन्होंने अपने पुत्रों को आध्यात्मिक-जीवन में पूर्णता प्राप्त करने की शिक्षा दी। उन्होंने जिस प्रकार पृथ्वी पर शासन किया और अवतार के रूप में अपना उद्देश्य पूरा किया उसके ये कुछेक उदाहरण हैं।

येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति. ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

येषाम्—जिनमें से; खलु—निश्चय ही; महा-योगी—ईश्वर का महान् भक्त; भरतः—भरत; ज्येष्ठः—सब से बड़ा; श्रेष्ठ-गुणः—उत्तम गुणों से सम्पन्न; आसीत्—था; येन—जिसके द्वारा; इदम्—यह; वर्षम्—लोक, देश; भारतम्—भारत; इति—इस प्रकार; व्यपदिशन्ति—लोग कहते हैं।

ऋषभदेव के सौ पुत्रों में से सबसे बड़े पुत्र का नाम भरत था, जो श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न महान् भक्त था। उसी के सम्मान में इस लोक को भारतवर्ष कहते हैं।

तात्पर्य : भारतवर्ष नामक यह लोक पुण्य भूमि भी कहलाता है। आजके समय में भारत-भूमि या भारतवर्ष हिमालय पर्वत से लेकर कुमारी अन्तरीप तक फैला हुआ एक लघु भूखण्ड है। कभी-कभी इस प्रायद्वीप को पुण्य-भूमि कहा जाता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने इस भूमि के वासियों को विशेष महत्ता प्रदान की है (चैतन्यचरितामृत, आदि ९.४१)—

भारत-भूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार।

जन्म सार्थक करि' कर पर-उपकार ॥

“जिसने भी भारतवर्ष में मनुष्य रूप में जन्म लिया है उसे परोपकार द्वारा अपना जीवन सार्थक बना लेना चाहिए।” इस भूभाग के वासी अत्यन्त भाग्यशाली हैं। वे कृष्णभावनामृत आन्दोलन को स्वीकार करके अपने जन्म को पवित्र बना सकते हैं और भारतभूमि के बाहर जाकर सारे विश्व के कल्याण हेतु इसका उपदेश दे सकते हैं।

तमनु कुशावर्त इलावर्तो ब्रह्मावर्तो मलयः केतुर्भद्रसेन इन्द्रस्पृग्विदर्भः कीकट इति नव नवति प्रधानाः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; अनु—अनुसरण करते हुए; कुशावर्त—कुशावर्त; इलावर्तः—इलावर्त; ब्रह्मावर्तः—ब्रह्मावर्त; मलयः—मलय; केतुः—केतु; भद्र-सेनः—भद्रसेन; इन्द्र-स्पृक्—इन्द्रस्पृक्; विदर्भः—विदर्भ; कीकटः—कीकट; इति—इस प्रकार; नव—नौ; नवति—नब्बे; प्रधानाः—से बड़े।

भरत के अतिरिक्त उनके निन्यानवे पुत्र और भी थे। इनमें से नौ बड़े पुत्रों के नाम कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ तथा कीकट थे।

कविर्हविरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः ।

आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः ॥ ११ ॥

इति भागवतधर्मदर्शना नव महाभागवतास्तेषां सुचरितं भगवन्महिमोपबृंहितं
वसुदेवनारदसंवादमुपशमायनमुपरिष्ठाद्वर्णयिष्यामः. ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

कविः—कवि; हविः—हवि; अन्तरिक्षः—अन्तरिक्ष; प्रबुद्धः—प्रबुद्ध; पिप्पलायनः—पिप्पलायन; आविर्होत्रः—आविर्होत्र;
अथ—भी; द्रुमिलः—द्रुमिल; चमसः—चमस; करभाजनः—करभाजन; इति—इस प्रकार; भागवत-धर्म-दर्शनाः—
श्रीमद्भागवत के प्रामाणिक उपदेशक; नव—नौ; महा-भागवताः—परम भक्त; तेषाम्—उनमें से; सुचरितम्—अच्छे लक्षण;
भगवत्-महिमा-उपबृंहितम्—भगवान् की महिमा से युक्त; वसुदेव-नारद-संवादम्—वसुदेव तथा नारद की वार्ता के अन्तर्गत;
उपशमायनम्—मन को परम सन्तोष देने वाली; उपरिष्ठात्—इसके बाद के, परवर्ती (ग्यारहवें स्कंध में); वर्णयिष्यामः—मैं
विस्तार से व्याख्या करूँगा।

इन पुत्रों के अतिरिक्त कवि, हवि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस
तथा करभाजन भी हुए। ये सभी परम भक्त एवं श्रीमद्भागवत के प्रामाणिक उपदेशक थे। ये
भक्त भगवान् वासुदेव के प्रति अपनी उत्कट भक्ति के कारण महिमा-मण्डित थे। मन की पूर्ण
तुष्टि के लिए मैं (शुकदेव गोस्वामी) इन नौ भक्तों के चरित्रों का वर्णन आगे चलकर नारद-
वासुदेव संवाद प्रसंग के अन्तर्गत करूँगा।

यवीयांस एकाशीतिर्जायन्तेयाः पितुरादेशकरा महाशालीना महाश्रोत्रिया यज्ञशीलाः कर्मविशुद्धा
ब्राह्मणा बभूवुः. ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यवीयांसः—इनसे छोटे; एकाशीतिः—इक्यासी; जायन्तेयाः—ऋषभदेव की पत्नी जयन्ती के पुत्र; पितुः—अपने पिता के;
आदेशकराः—आदेशानुसार; महा-शालीनाः—परम विनीत; महा-श्रोत्रियाः—वैदिक ज्ञान में पारंगत; यज्ञ-शीलाः—अनुष्ठानों
को करने में निपुण; कर्म-विशुद्धाः—अत्यन्त शुद्ध कर्मों वाले; ब्राह्मणाः—योग्य ब्राह्मण; बभूवुः—हुए।

उपर्युक्त उन्नीस पुत्रों के अतिरिक्त ऋषभदेव तथा जयन्ती से इक्यासी पुत्र और थे। ये अपने
पिता की आज्ञानुसार अति सुसंस्कृत, शालीन, उज्वल कर्मों वाले तथा वैदिक ज्ञान तथा
अनुष्ठानिक कार्यों में निपुण हुए। इस प्रकार ये सभी पूर्ण रूप से योग्य ब्राह्मण बन गये।

तात्पर्य : इस श्लोक से एक अच्छी जानकारी प्राप्त होती है कि गुण तथा कार्य के अनुसार
जातियाँ की अर्हताएँ कैसे बनती हैं। ऋषभदेव राजा थे, अतः निश्चय ही वे क्षत्रिय थे। उनके एक सौ
पुत्र थे जिनमें से दस क्षत्रिय कर्म में लगे हुए थे और पृथ्वी पर राज्य कर रहे थे। उनके नौ पुत्र
श्रीमद्भागवत के श्रेष्ठ उपदेशक (महाभागवत) हुए, जिसका अर्थ है कि वे ब्राह्मणों के पद से उच्च थे।
शेष इक्यासी पुत्र योग्य ब्राह्मण हुए। ये कुछ ऐसे ज्वलंत उदाहरण हैं, जो यह बताते हैं कि कोई जन्म
से नहीं वरन् अपने गुणों के कारण किसी कार्य के लिए योग्य (पात्र) बनता है। महाराज ऋषभदेव के

सभी पुत्र जन्म से क्षत्रिय थे, किन्तु अपने गुणों के कारण उनमें से कुछ क्षत्रिय बने, तो कुछ ब्राह्मण। उनमें से नौ पुत्र श्रीमद्भागवत के उपदेशक (भागवत-धर्म-दर्शनाः) थे जिसका तात्पर्य यह है कि वे क्षत्रिय तथा ब्राह्मण वर्गों से ऊपर उठ गये।

भगवानृषभसंज्ञ आत्मतन्त्रः स्वयं नित्यनिवृत्तानर्थपरम्परः केवलानन्दानुभव ईश्वर एव विपरीतवत्कर्माण्यारभमाणः कालेनानुगतं धर्ममाचरणेनोपशिक्षयन्नतद्विदां सम उपशान्तो मैत्रः कारुणिको धर्मार्थयशःप्रजानन्दामृतावरोधेन गृहेषु लोकं नियमयत् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; ऋषभ—ऋषभ; संज्ञः—नाम वाले; आत्म-तन्त्रः—पूर्णतया स्वतंत्र; स्वयम्—स्वयं; नित्य—शाश्वत; निवृत्त—विरक्त, मुक्त; अनर्थ—अनिच्छित वस्तुओं (जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि) की; परम्परः—परम्परा; केवल—केवल; आनन्द-अनुभवः—दिव्य आनन्द से परिपूरित; ईश्वरः—परमेश्वर, नियन्ता; एव—निस्सन्देह; विपरीत-वत्—विरुद्ध जैसे; कर्माणि—कर्मों को; आरभमाणः—करते हुए; कालेन—कालक्रम से; अनुगतम्—उपेक्षित; धर्मम्—वर्णाश्रम धर्म; आचरणेन—करने से; उपशिक्षयन्—उपदेश देकर; अ-तत्-विदाम्—अज्ञानी पुरुष; समः—समान; उपशान्तः—इन्द्रियों द्वारा अविचलित; मैत्रः—प्रत्येक व्यक्ति से मैत्री भाव; कारुणिकः—सबों पर सदय; धर्म—धार्मिक नियम; अर्थ—आर्थिक उन्नति; यशः—यश, कीर्ति; प्रजा—पुत्र तथा पुत्रियाँ; आनन्द—भौतिक सुख; अमृत—अमर जीवन; अवरोधेन—प्राप्त करने के लिए; गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; लोकम्—सामान्य लोगों को; नियमयत्—नियमित किया।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अवतार होने से भगवान् ऋषभदेव पूर्ण स्वतंत्र थे क्योंकि उनका यह स्वरूप शाश्वत तथा दिव्य आनन्दमय था। उन्हें भौतिक तापों के चार नियमों (जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि) से कोई सरोकार न था, न ही वे भौतिक दृष्टि से आसक्त थे। वे समानदर्शी थे। अन्यो को दुखी देखकर दुखी होते थे। वे समस्त जीवात्माओं के शुभचिन्तक थे। यद्यपि वे महान् पुरुष, परमेश्वर तथा सर्व-नियन्ता थे, तो भी वे ऐसा आचरण कर रहे थे, मानो कोई सामान्य बद्धजीव हो। अतः उन्होंने दृढ़तापूर्वक वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए तदनुसार कर्म किया। कालान्तर में वर्णाश्रम धर्म के नियम उपेक्षित हो चुके थे, फलतः अपने निजी गुणों तथा आचरण से उन्होंने अज्ञानी जनता को वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत कर्तव्य करना सिखाया। इस प्रकार उन्होंने सामान्य लोगों को गृहस्थाश्रम में प्रशिक्षित किया जिससे वे धार्मिक तथा आर्थिक उत्थान कर सकें और यश, सन्तान, आनन्द तथा अन्त में शाश्वत जीवन प्राप्त कर सकें। अपने उपदेशों से उन्होंने लोगों को गृहस्थाश्रम में रहते हुए वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन करते हुए परिपूर्ण बनने की शिक्षा दी।

तात्पर्य : वर्णाश्रम धर्म तो अपूर्ण बद्ध आत्माओं के लिए है। इससे उन्हें आध्यात्मिक उन्नति करके

घर वापस जाने अर्थात् भगवान् के धाम जाने की शिक्षा मिलती है। जिस सभ्यता में जीवन का परम लक्ष्य ज्ञात न हो वह पशु समाज के तुल्य है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है—*न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुम्*। मानव समाज का उद्देश्य आध्यात्मिक ज्ञान को बढ़ाकर समस्त मनुष्यों को जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के चंगुल से मुक्त कराना है। वर्णाश्रम धर्म मानव समाज को इतना समर्थ बनाता है कि वह माया के चंगुल से बाहर निकल कर तथा उसके नियमों का पालन करके सफल हो सके। इस सम्बन्ध में *भगवद्गीता* (३.२१-२४) देखनी चाहिए।

यद्यच्छीर्षण्याचरितं तत्तदनुवर्तते लोकः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यत् यत्—जो भी; शीर्षण्य—शीर्षस्थ महापुरुषों द्वारा; आचरितम्—आचरण किया जाता है; तत् तत्—वही; अनुवर्तते—अनुकरण करते हैं; लोकः—सामान्य जन।

महापुरुष जैसा जैसा आचरण करते हैं, सामान्यजन उसी का अनुकरण करते हैं।

तात्पर्य : ऐसा ही श्लोक *भगवद्गीता* (३.२१) में भी है। समाज में मनुष्यों के एक वर्ग को वैदिक आदेशों के अनुसार ब्राह्मणों के रूप में प्रशिक्षित होना चाहिए। इनसे नीचे के लोगों—शासकों, वणिकों तथा सेवकों—को इन बुद्धिजीवी लोगों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य परम दिव्य पद को प्राप्त हो सकता है और भौतिक आसक्ति से छूट सकता है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने इस भौतिक जगत को *दुःखालयमशाश्वतं* अर्थात् दुखों का अस्थायी स्थान कहा है। यदि कोई दुखों से समझौता भी कर ले, तो भी वह बच नहीं सकता। उसे इस शरीर का परित्याग करके दूसरा शरीर धारण करना ही होता है और हो सकता है कि यह मनुष्य-शरीर न हो। शरीर प्राप्त करते ही मनुष्य देह-भृत् अथवा देही हो जाता है अर्थात् उसे समस्त भौतिक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। समाज के उन्नायकों को ऐसा आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए जिससे उनका अनुकरण करके कोई भी मनुष्य संसार के बन्धन से छूट सके।

यद्यपि स्वविदितं सकलधर्मं ब्राह्मं गुह्यं ब्राह्मणैर्दर्शितमार्गेण सामादिभिरुपायैर्जनतामनुशशास. ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यद्यपि—यद्यपि; स्व-विदितम्—स्वतः ज्ञात; सकल-धर्मम्—विभिन्न प्रकार के कर्म; ब्राह्मम्—वैदिक उपदेश; गुह्यम्—अत्यन्त गोपनीय; ब्राह्मणैः—ब्राह्मणों के द्वारा; दर्शित-मार्गेण—दिखलाये गये मार्ग द्वारा; साम-आदिभिः—साम, दम, तितिक्षा इत्यादि; उपायैः—साधनों से; जनताम्—सामान्य जन पर; अनुशासन—राज्य किया।

यद्यपि भगवान् ऋषभदेव समस्त गुह्य वैदिक ज्ञान से परिचित थे, जिसमें सभी करणीय कर्मों से सम्बन्धित जानकारी सम्मिलित है, तो भी वे अपने को क्षत्रिय मान कर ब्राह्मणों के उन उपदेशों का अनुकरण करते थे, जिनका सम्बन्ध साम (मन पर नियंत्रण), दम (इन्द्रियों पर नियंत्रण), तितिक्षा (सहनशीलता) इत्यादि से था। इस प्रकार उन्होंने वर्णाश्रम-धर्म पद्धति से जनता पर शासन किया। इसके अनुसार ब्राह्मण क्षत्रियों को शिक्षा देता है और क्षत्रिय वैश्यों तथा शूद्रों के माध्यम से राज्य चलाता है।

तात्पर्य : यद्यपि ऋषभदेव समस्त वैदिक उपदेशों से भली भाँति अवगत थे तो भी सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए वे ब्राह्मणों के उपदेशों का पालन करते रहे। ब्राह्मण शास्त्रों के अनुसार उपदेश देते थे और अन्य समस्त जातियाँ उसका पालन करती थीं। ब्रह्म शब्द का अर्थ है “समस्त कार्यों का पूर्ण ज्ञान” और यह ज्ञान वैदिक साहित्य में गुह्य रूप से वर्णित है। ब्राह्मणों के रूप में शिक्षा-प्राप्त मनुष्यों को समस्त वैदिक साहित्य का ज्ञान होना चाहिए और इस ज्ञान का लाभ जनसाधारण को मिलना चाहिए। जनता का कर्तव्य है कि वह पूर्ण ब्राह्मण का अनुगमन करे। इस प्रकार कोई भी मन तथा इन्द्रियों को वश में करना सीख सकता है और धीरे-धीरे आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

द्रव्यदेशकालवयःश्रद्धात्विग्विधोद्देशोपचितैः सर्वैरपि क्रतुभिर्यथोपदेशं शतकृत्व इयाज. ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

द्रव्य—यज्ञ की सामग्री; देश—विशिष्ट स्थान, तीर्थ या मन्दिर; काल—उपयुक्त समय, यथा वसन्त; वयः—आयु, विशेषतया युवावस्था; श्रद्धा—अच्छाई में विश्वास; ऋत्विक्—पुरोहितगण; विविध-उद्देश—विभिन्न प्रयोजनों से विभिन्न देवताओं की पूजा करके; उपचितैः—समृद्ध होकर; सर्वैः—सभी प्रकार के; अपि—निश्चय ही; क्रतुभिः—याज्ञिक अनुष्ठानों द्वारा; यथा-उपदेशम्—उपदेश के अनुसार; शत-कृत्वः—एक सौ बार; इयाज—आराधना की।

भगवान् ऋषभदेव ने शास्त्रों के अनुसार सभी यज्ञों को सौ सौ बार सम्पन्न किया और इस प्रकार से भगवान् विष्णु को सभी प्रकार से तुष्ट किया। सभी अनुष्ठान उत्तम कोटि की सामग्री से तथा उचित समय में और पवित्र स्थानों पर युवा तथा श्रद्धालु पुरोहितों द्वारा सम्पन्न हुए। इस प्रकार भगवान् विष्णु की पूजा की गई और समस्त देवताओं को प्रसाद वितरित किया गया।

सारे अनुष्ठान तथा उत्सव सफल हुए।

तात्पर्य : कहा गया है कि—*कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह (भागवत ७.६.१)*। अनुष्ठानों की सफलता के लिए इन्हें युवकों, हो सके तो बालकों द्वारा सम्पन्न कराया जाना चाहिए। मनुष्यों को बचपन से ही वैदिक संस्कृति की और विशेष रूप से भक्तिमय सेवा की, शिक्षा दी जानी चाहिए। इस प्रकार कोई भी अपना जीवन सफल (पूर्ण) बना सकता है। वैष्णव कभी भी देवताओं का अनादर नहीं करता, किन्तु वह इतना मूर्ख नहीं होता कि प्रत्येक देवता को परमेश्वर मान ले। परमेश्वर समस्त देवताओं के स्वामी हैं, अतः सारे देवता उनके सेवक हुए। वैष्णव उन्हें परमेश्वर के दास मानता है और सीधे उन्हीं की उपासना करता है। *ब्रह्म-संहिता* में मुख्य देवताओं की उपासना *गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि* शब्दों द्वारा की जाती है। मुख्य देवताओं में शिव, ब्रह्मा तथा भगवान् कृष्ण के अवतार तथा विस्तार जैसे गर्भोदकशायी विष्णु, महाविष्णु तथा अन्य समस्त विष्णुतत्त्व के साथ ही दुर्गादेवी जैसे शक्तितत्त्व उल्लेखनीय हैं। वैष्णव देवताओं की उपासना गोविन्द के संदर्भ में करता है, स्वतंत्र रूप से नहीं। वैष्णव इतना मूर्ख नहीं होता कि वह देवताओं को भगवान् से स्वतंत्र माने। इसकी पुष्टि *चैतन्यचरितामृत* में—*एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य*—से हुई है, जिसका अर्थ है—श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं और अन्य सभी उनके सेवक हैं।

भगवतर्षभेण परिरक्ष्यमाण एतस्मिन्वर्षे न कश्चन पुरुषो वाञ्छत्यविद्यमानमिवात्मनोऽन्यस्मात्कथञ्चन किमपि कर्हिचिदवेक्षते भर्तार्यनुसवनं विजृम्भितस्नेहातिशयमन्तरेण ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

भगवता—भगवान्; ऋषभेण—ऋषभदेव द्वारा; परिरक्ष्यमाणे—परिरक्षित होकर; एतस्मिन्—इस; वर्षे—भूखण्ड (लोक) में; न—नहीं; कश्चन—कोई भी; पुरुषः—सामान्यजन; वाञ्छति—आकांक्षा करता है; अविद्यमानम्—उपस्थित न रहकर; इव—के समान; आत्मनः—अपने लिए; अन्यस्मात्—अन्य किसी से; कथञ्चन—किसी प्रकार से; किमपि—कुछ भी; कर्हिचित्—किसी समय; अवेक्षते—देखने का साहस करता है; भर्तारि—स्वामी के प्रति; अनुसवनम्—सदैव; विजृम्भित—बढ़ने वाले; स्नेह-अतिशयम्—अत्यन्त स्नेह; अन्तरेण—अपनी आत्मा में।

कोई भी व्यक्ति 'आकाश-कुसुम' जैसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा नहीं करता क्योंकि उसे पता रहता है कि ऐसी वस्तुएँ विद्यमान नहीं हैं। जब भगवान् ऋषभदेव इस भारतवर्ष-भूमि में राज्य कर रहे थे तो सामान्य जनता को भी किसी समय या किसी प्रकार से किसी वस्तु की इच्छा नहीं रह गई थी। कोई भी 'आकाश कुसुम' नहीं चाहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि

सभी लोग पूर्णतया सन्तुष्ट थे, अतः किसी को किसी भी प्रकार की वस्तु माँगने की आवश्यकता नहीं थी। सभी लोग राजा के अतीव स्नेह में मग्न थे। चूँकि यह स्नेह निरन्तर बढ़ता गया इसलिए वे किसी भी वस्तु की याचना करने के इच्छुक नहीं थे।

तात्पर्य : बंगाल में घोड़ा-डिम्ब शब्द प्रचलित है, जिसका अर्थ है “घोड़े का अंडा।” चूँकि घोड़ा कभी अंडे नहीं देता इसलिए इस शब्द का कोई अर्थ नहीं होता। संस्कृत में एक शब्द है ख-पुष्प—जिसका अर्थ है “आकाश कुसुम।” आकाश में कोई पुष्प नहीं खिलता इसलिए ख-पुष्प या घोड़ा-डिम्ब जैसी वस्तुओं की कभी याचना नहीं की जाती। महाराज ऋषभदेव के राज्य में मनुष्य सभी प्रकार से सम्पन्न थे, अतः उन्हें किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं थी। राजा ऋषभदेव के सु-शासन में दैनिक जीवन की सभी वस्तुएँ प्रभूत मात्रा में उपलब्ध थीं। फलतः प्रत्येक व्यक्ति पूर्णतः संतुष्ट था और उसे किसी तरह की आवश्यकता नहीं थी। यह सरकार (शासन) की पूर्णता का परिचायक है। यदि कुशासन के कारण प्रजा दुखी रहती है, तो राज्य-अधिकारी निन्दा के पात्र बनते हैं। प्रजातंत्र के इस युग में लोगों को राजतंत्र पसन्द नहीं है, किन्तु यहाँ पर ऐसा उदाहरण प्राप्त होता है, जिसमें पूरे विश्व का सम्राट वैदिक नियमों का पालन करते हुए अपनी प्रजा की समस्त आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ है। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव महाराज के राज्य में सभी लोग सुखी थे।

स कदाचिदटमानो भगवानृषभो ब्रह्मावर्तगतो ब्रह्मर्षिप्रवरसभायां प्रजानां

निशामयन्तीनामात्मजानवहितात्मनः प्रश्रयप्रणयभरसुयन्त्रितानप्युपशिक्षयन्निति होवाच. ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; कदाचित्—एक बार; अटमानः—घूमते-घूमते; भगवान्—भगवान्; ऋषभः—ऋषभदेव; ब्रह्मावर्त-गतः—जब वे ब्रह्मावर्त नामक देश में [जिसे कुछ लोग बर्मा (ब्रह्मा) देश और कुछ कानपुर के निकट (बिठूर) कहते हैं] पहुँचे; ब्रह्म-ऋषि-प्रवर-सभायाम्—उच्चकोटि के ब्राह्मणों की सभा में; प्रजानाम्—जबकि नागरिक; निशामयन्तीनाम्—सुन रहे थे; आत्मजान्—अपने पुत्रों; अवहित-आत्मनः—सावधान; प्रश्रय—अच्छे आचरण वाले; प्रणय—भक्ति वाले; भर—अधिकता से; सु-यन्त्रितान्—सुनियंत्रित; अपि—यद्यपि; उपशिक्षयन्—शिक्षा देकर; इति—इस प्रकार; ह—ही; उवाच—कहा।

एक बार भगवान् ऋषभदेव घूमते-घूमते ब्रह्मावर्त नामक देश में पहुँचे। वहाँ पर विद्वान ब्राह्मणों की एक बड़ी सभा हो रही थी और राजा के सभी पुत्र बड़े ही मनोयोग से ब्राह्मणों का उपेक्ष सुन रहे थे। उस सभा में, समस्त नागरिकों के समक्ष ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को शिक्षा दी, यद्यपि वे पहले से ही अच्छे आचरण वाले, भक्त और योग्य थे। उन्होंने इसलिए शिक्षा दी,

जिससे वे भविष्य में अच्छी तरह संसार का शासन चला सकें। वे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : यदि कोई दुखों से पूर्ण इस संसार में शान्तिपूर्वक रहना चाहता है, तो उसके लिए भगवान् ऋषभदेव द्वारा अपने पुत्रों को दी गई शिक्षाएँ अत्यन्त मूल्यवान हैं। अगले अध्याय में उनकी शिक्षाएँ दी गई हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत “भगवान् ऋषभदेव के लक्षण” नामक चौथे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।